राजपूतों की उत्पत्ति : पूर्व मध्ययुगीन राजस्थान में राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक प्रक्रियाएं

बी० डी० चट्टोपाध्याय

राजपूतों की उत्पत्ति एक अत्यंत कर्णभेदी विषय रहा है जिसकी पूर्व मध्ययुगीन एवं मध्ययुगीन भारत से संबंधित ऐतिहासिक रचनाओं में पर्याप्त खींचातानी हुई है। इन रचनाओं में विभिन्न मतों में परस्पर अत्यधिक विरोध दृष्टिगोचर होता है। एक ओर तो राजपूतों का संबंध गुप्तोत्तरकालीन विदेशी प्रवासियों से जोड़ते हुए उनकी उत्पत्ति से संबंधित 'अग्निकुल' नामक उत्तरकालीन गाथा को शुद्धिकरण कथानक का रूप दिया गया और दूसरी ओर राजपूतों को विशुद्ध क्षत्रिय कुलों से उत्पन्न प्रदर्शित करने के लिए जबरदस्ती औचित्यता दिखाने का प्रयास किया गया है।[1] राष्ट्रीयतापूर्ण इतिहास लेखन के चरमोत्कर्ष काल में राजपूतों की स्वदेशी उत्पत्ति के सिद्धांत ने एक विशिष्ट प्रतीकात्मक रूप धारण कर लिया था और विभिन्न प्रकार की ऐतिहासिक एवं विशुद्ध साहित्यिक रचनाओं में राजपूतों के सैनिक एवं शौर्यपूर्ण गुणों को बारंबार प्रस्तुत किया गया। ऐतिहासिक रचनाओं के स्तर पर सी० वी० वैद्य को इस दृष्टिकोण की पराकाष्ठा का प्रतिनिधि कहा जा सकता है। वे लिखते हैं :

> अब जो राजपूत प्रकाश में आए और जो अपने शौर्य से मध्ययुगीन भारतीय इतिहास को गौरव प्रदान करते हैं, वे वैदिक आर्यों के वंशजों के अतिरिक्त और कोई हो ही नहीं सकते। वैदिक आर्यों के अलावा कोई भी अपने पूर्वजों के धर्म की रक्षा के लिए इतनी वीरतापूर्वक नहीं लड़ सकता था।[2] इस दृष्टिकोण का एक अन्य पक्ष हाल की रचनाओं में दोहराए गए इस प्रस्ताव से प्रकट होता है कि राजपूतों का उदय विदेशी आक्रमणों का विरोध करने की प्रक्रिया के दौरान हुआ और यह कि उन्होंने 'स्वेच्छापूर्वक राष्ट्र और उसके लोगों एवं संस्कृति की रक्षा के लिए क्षत्रियों के कर्तव्य का भार अपने कंधों पर ले लिया।'[3]
>
> (रेखांकन हमारी ओर से)

वृत्तांतात्मक राजनीतिक इतिहास के स्तर पर राजपूतों के प्रारंभिक इतिहास का पुनर्गठन एक ऐसे स्वरूप का अनुसरण करता है जिसे हाल में 'वंशीकरण' की प्रवृत्ति की संज्ञा दी गई है। यह प्रवृत्ति अभिलेखों में पाई जाने वाली वंशावलियों का अध्ययन करने वाले अधिकांश प्रयासों में दृष्टिगोचर होती है और इन प्रयासों के फलस्वरूप प्रकट होने वाला तथ्य है : 'अनिश्चित तिथि एवं वंश के अनेक शासकों के अभिलेखों को वंशात्मक ढांचे में तर्कसंगत ढंग से बैठाने की प्रथा और उसके द्वारा आंकड़ों का अभाव होते हुए भी उन पर लौकिक एवं प्रजननात्मक नातेदारियां प्रदान करना' और इसके अतिरिक्त 'इससे भी अधिक व्यापक वह प्रथा जिसके अनुसार छोटी छोटी वंशावलियों के सान्निध्य एवं शृंखलाबंधन से उन्हें प्रभावशाली पूर्ण वंशावली में आरोपित किया जाता था—यह पूर्ण वंशावली वास्तव में अपने अंगों के योग से कहीं अधिक बड़ी बन जाती है।'[4]

राजपूतों के आरंभिक इतिहासों से संबंधित अधिकांश नवीनतम रचनाएं भी इन धारणाओं एवं रीतियों से अधिक भिन्न नहीं हैं। इसका परिणाम यह है कि राजस्थान से संबंधित विस्तृत अध्ययनों में भी पूर्व मध्ययुगीनकाल में राजपूतों की उत्पत्ति का विश्लेषण ऐसी प्रक्रिया के रूप में कभी नहीं किया गया जिनकी समांतर प्रक्रियाएं संभवतः इस क्षेत्र के बाहर होने वाली पूर्व मध्ययुगीन गतिविधियों में हुई हों। अतः, राजपूतों के पृथक रूप से किए गए अध्ययनों में, सरल सामान्यीकरणों को छोड़कर, बहुत कम ही उन कारकों का उल्लेख किया गया है जो पूर्व मध्ययुगीन भारत में क्रियाशील थे।[5] यह स्वीकार किया जा सकता है कि संभवतः राजपूतों के उदय का स्वरूप पश्चिमी भारत के बाहर होने वाली गतिविधियों से विशेष रूप से हटकर हो फिर भी यह अनुरोध उचित ही है कि इस पूर्ण घटना का विश्लेषण एक संपूर्ण प्रक्रिया के रूप में होना चाहिए। प्रस्तुत लेख में इस प्रक्रिया एवं कालांतर में राजपूत कहलाए जाने वाले कुलों के इतिहास के आरंभिक चरणों का अध्ययन करने का प्रयास किया गया है।[6] यह प्रयास अभीष्ट पूर्णतर अध्ययन की एक रूपरेखा मात्र है।

पूर्व मध्ययुग में अत्यंत लोकप्रिय होने वाले पारंपरिक 'क्षत्रिय' स्तर के दावों के हाल के विश्लेषणों[7] ने इस लेख की सामान्य रूपरेखा प्रदान की है। ये दावे मूलभूत वंशोत्पत्ति को प्रकट करने के बजाय उनसे बचने के प्रयास थे और वे राजत्व के उस स्वरूप पर बल देते हैं जिसमें नवोदित सामाजिक वर्ग अपनी नवप्राप्त शक्ति को वैधता प्रदान करने के लिए अनेक प्रतीकों का सहारा लेते रहे। इसके अतिरिक्त, परंपरागत वर्ण श्रेणियों के समान 'राजपूत' भी स्थान एवं समय की दृष्टि से एक सम्मिश्रणात्मक शब्द है और हाल तक यह कबीले से राज्य रूप में परिवर्तन का एक मान्य माध्यम रहा है।[8] अतः भिन्न कालों एवं भिन्न क्षेत्रों में क्रियाशील राजपूतीकरण की प्रक्रियाएं भिन्न रही होंगी और प्रस्तुत समस्या को प्रभावित करने वाली राजपूतीकरण की अवधारणा को उसी सीमा तक उचित माना गया है जहां तक वह मध्ययुगीन राजपूत विषय के एक प्रक्रिया के रूप में अध्ययन की आवश्यकता पर बल देती है, न कि विशिष्ट वंशों की प्रामाणिक अथवा मनगढ़ंत वंशपरंपराओं के परिप्रेक्ष्य में।

संबंधित प्रक्रियाओं का एक आरंभिक अनुमान 'राजपूत' शब्द को परिभाषित करने की चेष्टा द्वारा लगाया जा सकता है। कुछ अभिज्ञेय कुलों के संबंध में स्पष्ट प्रमाणों और अभिलेख एवं साहित्य में 'राजपुत्रों' के प्रायः उल्लेखों के होते हुए भी, अन्य कालों के समान पूर्व मध्ययुग में भी राजपूतों को अ-राजपूतों से अलग करना शायद आसान नहीं होगा। उत्तरकालीन साहित्य में से प्रमाणों के बाह्याकलन द्वारा आरंभिक राजपूतों को पहचाना जा सकता है। 'कुमारपाल चरित'[9] एवं 'वर्णरत्नाकर'[10] जैसी अपेक्षाकृत प्राचीन कृतियों में परंपरागत 36 राजपूत कुलों की सूचियों से संबंधित वक्तव्य मिलते हैं। 'राजतरंगिणी'[11] में भी 36 की संख्या का उल्लेख है। चूंकि ये सूचियां एक दूसरे से मेल नहीं खातीं,[12] अतः इन विभिन्न सूचियों की रचना के विश्लेषण से प्रकट होता है कि उनकी संरचना ऐसे ढंग से नहीं हुई थी जो समकालीन संग्रहकर्ताओं द्वारा अपरिवर्तनीय समझी जाती। यदि 'राजपुत्रों' के पूर्व मध्ययुगीन एवं मध्ययुगीन उल्लेखों पर नजर डाली जाए तो वे एक 'मिश्रित जाति'[13] का प्रतिनिधित्व करते और 'जागीरों के छोटे छोटे मुखियों का एक पर्याप्त विस्तृत अंश थे।'[14] कम से कम राजपूत शक्ति के दृढ़ीकरण के आरंभिक चरणों में किसी विशिष्ट कुल का समकालीन स्तर ही उसके राजपूत कुलों में सम्मिलित होने का आधार प्रस्तुत करता था। किंतु, संभवतः उनकी राजनीतिक प्रभुसत्ता के कारण ही चाहमानों अथवा प्रतिहारों जैसे कुछ कुलों के नाम नियमित रूप से सूचियों में मिलते हैं। उनसे संबंधित सामग्री भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है और इसीलि

प्रस्तुत लेख में अन्य कुलों की अपेक्षा इन कुलों का उल्लेख अधिक होगा।

पूर्व मध्ययुगीन दस्तावेजों में राजपूतों के उदय की प्रक्रियाओं के दो महत्वपूर्ण संकेतक हैं। जैसा इन प्रमाणों से प्रकट होता है, एक स्तर पर तो संभवतः प्रक्रिया को नए क्षेत्रों के उपनिवेशीकरण की बहुलता के साथ जोड़ना होगा। इस उपनिवेशीकरण के प्रमाण बस्तियों की संख्या में होने वाली महत्वपूर्ण वृद्धि में ही नहीं, अपितु कुछ अभिलेखीय उल्लेखों में भी दृष्टिगोचर होते हैं जिनसे कृषिप्रधान अर्थव्यवस्था के विस्तार का संकेत मिलता है। विस्तृत ऐतिहासिक-भौगोलिक अध्ययन की अनुपस्थिति में बस्तियों की संख्या की वृद्धि का दावा करना केवल आभासात्मक है। किंतु पुरातात्विक अवशेषों के विस्तृत वितरण[15] तथा इस काल के अभिलेखों और अनेक नए स्थान-नामों के परिप्रेक्ष्य में उपरोक्त अनुमान की वैधता के बारे में कोई संदेह नहीं हो सकता। दकन के संख्याओं से युक्त क्षेत्रीय विभागों के समान ही [16] चाहमानों के राज्य को इंगित करने वाला 'सपादलक्ष'[17] नाम भी संभवतः ग्रामीण बस्तियों के विस्तार की ओर इंगित करता है। वास्तव में 'स्कंद पुराण' में वर्णित वागुरी 80,000 अथवा विराट 36,000 जैसे संख्याओं से युक्त कुछ क्षेत्रीय विभागों को राजस्थान में ही रखा गया है।[18] नाडौल चाहमान राज्य 'सप्तशत' के नाम से विख्यात था और इस वंश से संबंधित तथा खनन से प्राप्त एक अभिलेख में इस बात का दावा किया गया है कि एक चाहमान नरेश ने 'सीमाधिपों' (अपने राज्य की सीमाओं के प्रमुखों) का हनन करके तथा उनके ग्रामों को अपने राज्य में मिलाकर, उसे 'सप्तसाहस्रिक' बना दिया।[19] लगभग 12वीं शताब्दी के अभिलेखों में आबू क्षेत्र 'अष्टादशशत' के नाम से विख्यात था।[20] यदि ये प्रमाण कुल मिलाकर बस्तियों के प्रगुणन का संकेत देते हैं तो कृषिप्रधान अर्थव्यवस्था के विस्तार के माध्यम से इस प्रक्रिया का संबंध लगभग सातवीं शताब्दी से होने वाले प्रारंभिक राजपूतों के उदय से स्थापित किया जा सकता है। सिंचाई पर आधारित कृषि[21] का उल्लेख करने वाले किष्किंधा[22] एवं धवगर्ता के गुहिलों[23] के अभिलेखों के अतिरिक्त मंडौर प्रतिहारों के अभिलेखों से इसके और अधिक स्पष्ट संबंध का संकेत मिलता है। कक्कुक के 861 ई० के घटियाला अभिलेख[24] में उसे अगम्य वटनानक क्षेत्र में मवेशियों के अतिक्रमण तथा अग्नि द्वारा ग्रामों के विध्वंस का श्रेय दिया गया है। कक्कुक ने इस क्षेत्र को 'नीलकमल के पत्तों से सुगंधित एवं आम्र कुंजों तथा मधुक वृक्षों से मनोहारी बना दिया और अत्युत्तम गन्ने के पौधों से आच्छादित किया।' उसी के काल के और 861 ई० के ही एक अन्य घटियाला अभिलेख[25] में एक स्थान के पुनर्वास का उल्लेख करते हुए उसे 'आभीरजनदारुणः' अर्थात 'आभीरों के निवास के कारण भयानक' कहा है। उस स्थान को तो जीत लिया गया, और रोहिंसकूप नामक ग्राम तथा मद्दोदर (जिसकी तादात्म्यता मंडौर से की गई है) में भी बाजारों का प्रबंध किया गया। घटियाला अभिलेखों में बार बार कहा गया है कि कक्कुक ने इस क्षेत्र में 'हट्ट' एवं 'महाजन' स्थापित किए, जो, ऐसा प्रतीत होता है कि साधुजनों के निवास के अयोग्य होने के कारण (असेव्यः साधुजनानां) अब ब्राह्मणों, सैनिकों एवं व्यापारियों द्वारा खचाखच भर गए। जब शबरों, भिल्लों एवं पुलिंदों के दमन[26] का वर्णन करने वाले पश्चिमी एवं मध्य भारत के कुछ अन्य अभिलेखों की रोशनी में देखने पर राजस्थान से प्राप्त उपरोक्त साक्ष्य एक प्रक्रिया के दो महत्वपूर्ण पक्षों को प्रकट करते हैं। प्रथमतः, बाद में राजपूत शक्ति कहलाई जाने वाली शक्ति का क्षेत्रीय विस्तार, कम से कम कुछ क्षेत्रों में, भूतपूर्व कबायली बस्तियों का अंत करके किया गया था। गुहिलों एवं चाहमानों के संबंध में भी विस्तार की ऐसी ही प्रक्रिया दृष्टिगोचर होती है। यद्यपि सातवीं शताब्दी ई० जैसे आरंभिक काल में भी राजस्थान के विभिन्न भागों में गुहिला बस्तियों के प्रमाण मिलते हैं

किंतु नागदा-आहार गुहिलों के अभिलेखों में वर्णित कुछ उत्तरकालीन परंपराएं उनका आगमन गुजरात से बताती हैं।[27] एक बृहत चारणीय परंपरा से पता चलता है कि दक्षिणी राजस्थान का गुहिला साम्राज्य भीलों के पूर्ववर्ती कबायली राज्य के आधार पर बना था।[28] गुहिल नरेशों के राज्यारोहण समारोह में भीलों की भूमिका[29] में निहित गुहिल-भील पारस्परिक संबंधों का संकेत एकलिंगजी मंदिर के 1282 के एक अभिलेख में भी मिलता है :

> राजा अल्लट के शत्रु रणक्षेत्र में (उसके प्रति) अपनी घृणा अभिव्यक्त करने में निर्वीर्य होने के कारण भिल्ल नारियों को अनादर की दृष्टि से देखते हैं। ये नारियां प्रत्येक पर्वत पर प्रसन्नतापूर्वक उसके कृत्यों की चर्चा करती हैं।[30]

चाहमानों के अभिलेखों में वर्णित परंपराओं के अनुसार उनका विस्तार अहिच्छत्रपुर से शाकंभरी अथवा जांगलदेश की ओर हुआ था। जांगलदेश के नाम एवं भू-आकृति[31] के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उपरोक्त विस्तार के फलस्वरूप सामान्यतया एक निर्जन प्रदेश का उपनिवेशीकरण हुआ था। चाहमान वंश की नाडौल शाखा की स्थापना लक्ष्मण द्वारा गोद्वार क्षेत्र में हुई थी। 'पुरातनप्रबंधसंग्रह' एवं 'नैणसी की ख्यात'[32] में वर्णित परंपरा के अनुसार लक्ष्मण की सैनिक निर्भीकता के फलस्वरूप ही उस क्षेत्र के मेद लोगों के दमन के बाद राज्य की स्थापना हुई थी। इसी प्रक्रिया का एक अन्य उदाहरण 'पल्लिवल चंद' के चारणी कथानकों में मिलता है, जो यह बताते हैं कि किस प्रकार मेद एवं मीना लोगों को दूर रखने के लिए राठोड़ सिंह को बुलाया गया था।[33] दूसरे, जैसा कि प्रतीहार कक्कुक के अभिलेखों के संदर्भ में कहा जा चुका है, नए क्षेत्रों को बसाने की प्रक्रिया के साथ साथ एक ऐसी अर्थव्यवस्था भी जुड़ी थी जिसे अपेक्षाकृत अधिक विकसित कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह हुआ कि जब राजपूत राजनय व्यवस्था का उदय हो रहा था तो राजस्थान के विभिन्न क्षेत्रों में कबायली क्षेत्रों के रूपांतरण की प्रक्रिया चल रही थी। भारत में अन्यत्र होने वाले ऐसे संक्रमण से उत्पन्न परिवर्तनों के कुछ पक्षों के अस्तित्व की अपेक्षा पूर्व मध्ययुगीन राजस्थान में भी की जा सकती है।

जैसाकि दूसरे चिह्न से प्रकट होता है, राजपूतों के उदय को केवल उपनिवेशीकरण के परिप्रेक्ष्य में ही देखना संपूर्ण प्रक्रिया को गलत दृष्टिकोण से लेना होगा। इस संदर्भ में हम अभिलेखों द्वारा प्रस्तुत दूसरे संकेत की ओर दृष्टिपात करते हैं। यह तथ्य कि इसी काल के दौरान अन्यत्र क्षत्रिय स्तर की ओर गतिशीलता की प्रक्रिया क्रियाशील थी, हमें राजस्थान में भी उसके दृष्टांत खोजने की ओर अग्रसर करता है। इस संदर्भ में राजपूत कुलों की सूचियों में सम्मिलित दो वर्गों के उदाहरण अत्यंत महत्वपूर्ण हैं, एक तो मेद लोग जो कबायली पृष्ठभूमि से राजपूत स्तर को प्राप्त करने में सफल बताए जाते हैं,[34] दूसरा उदाहरण हूणों का है।[35] इन दो वर्गों का राजपूती कुल के ढांचे में सम्मिलित होना इस धारणा को असत्य सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि यह ढांचा केवल ऐसे वर्गों द्वारा बना था जो आरंभ से ही 'विदेशी' अथवा 'स्वदेशी' वंशक्रम में निबद्ध थे।

II

कुछ स्रोतों में 'राजपुत्रों' के मिश्रित जाति के होने के उल्लेखों के अतिरिक्त मेदों एवं हूणों से संबंधित उपरोक्त प्रमाणों से इस बात की आवश्यकता स्पष्ट हो जाती है कि राजपूत कुलों के आदि वंशज की नहीं अपितु उन ऐतिहासिक चरणों की खोज की जाए जिनके माध्यम से राजपूत कुल ढांचे का विकास हुआ। ऐसा अध्ययन आरंभ में उन प्रमुख कुलों के संदर्भ में किया

जा सकता है जिन्होंने पूर्व मध्ययुगीन राजस्थान में राजनीतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। प्रस्तुत लेख के उद्देश्य से इन कुलों में प्रतीहारों, गुहिलों एवं चाहमानों को सम्मिलित किया गया है।

सर्वप्रथम हम प्रतीहारों की चर्चा करेंगे। यद्यपि 'गुर्जर-प्रतीहार' समास में गुर्जर शब्द का संबंध लोगों से न जोड़कर प्रदेश से जोड़कर[36] प्रतीहारों को गुर्जरों से पृथक सिद्ध करने का भरसक प्रयास किया गया है फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि लगभग आठवीं शताब्दी में प्रभुता प्राप्त करने वाले प्रतीहार वास्तव में गुर्जर नस्ल के ही थे। प्राचीनकाल में 'जनपदों' और कबीलों के नाम प्रायः आपस में बदले जा सकते थे।[37] दूसरे, यह तर्क भी न्यायसंगत नहीं है कि प्रतीहारवंशी पशु चारण करने वाली गुर्जर नस्ल से उत्पन्न नहीं हो सकते थे, क्योंकि सातवीं शताब्दी जैसे प्राचीनकाल में भी नंदीपुरी के गुर्जर एक शासक वंश का प्रतिनिधित्व कर रहे थे।[38] तीसरे, अलवर क्षेत्र में प्रतीहारों की एक शाखा को बाड गूजरों का प्रतिनिधि माना जाता है।[39] सातवीं शताब्दी के बाद के दस्तावेजों में पश्चिमी भारत में एक राजनीतिक शक्ति के रूप में गुर्जरों के विस्तृत वितरण के पर्याप्त संकेत मिलते हैं और साधारण गुर्जर लोगों के उल्लेखों से प्रकट होता है कि कतिपय परिवारों की राजनीतिक प्रभुत्ता, उसी नस्ल में विकसित होने वाली स्तरीकरण की प्रक्रिया को प्रतिबिंबित करती है। 'पंचतंत्र' में इस बात का उल्लेख है कि गुर्जर प्रदेश में बिकाऊ ऊंट मिलते थे।[40] यह साक्ष्य पशु चारण की ओर संकेत करता है, हालांकि यह साक्ष्य अपर्याप्त ही है। अलवर में राजोगढ़ से प्राप्त गुर्जर-प्रतीहार नरेश मठन के एक अभिलेख में गुर्जरों का उल्लेख कृषकों के रूप में भी किया गया है।[41] ऐसा प्रतीत होता है कि अन्य अनेक गुर्जर वंशों के समान प्रतीहार भी राजनीतिक शक्ति के माध्यम से गुर्जर परिवार से अलग हो गए थे। इस प्रक्रिया का समांतर उदाहरण कुषाणों के दृष्टांत में मिलता है जो मूलतः यू-ची का एक अंश मात्र थे और बाद में राजनीतिक प्रभुसत्ता प्राप्त करके उन्होंने पांच विभिन्न जातियों को समीभूत कर लिया।[42] इसके अतिरिक्त कुछ प्रतीहारों के ब्राह्मण बनने की प्रक्रिया के तथ्य का भी समांतर उदाहरण आभीरों के बीच होने वाले विकासों में दृष्टिगोचर होता है क्योंकि उनमें से भी आभीर ब्राह्मण, आभीर क्षत्रिय, आभीर शूद्र आदि का उदय हुआ।[43]

निस्संदेह यह संपूर्ण पुनर्निर्माण बहुत नाजुक है और साक्ष्यों के अभाव में चाहमानों एवं गुहिलों के बारे में तो ऐसा पुनर्निर्माण भी संभव नहीं है। राजनीतिक प्रभुसत्ता प्राप्त करने और उसके समकक्ष ही सामाजिक प्रतिष्ठा के प्रति अग्रसर होने वाली प्रक्रिया में एक निश्चित अंतर्संबंध था। इस अंतर्संबंध का स्वरूप कुछ निम्न तालिकाओं द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है। ये तालिकाएं अधिकांशतः प्रतीहारों, गुहिलों एवं चाहमानों के विभिन्न परिवारों के अभिलेखों के आधार पर तैयार की गई हैं।[44]

गुर्जर-प्रतीहार

क्षेत्र	तिथि	कुल का नाम	राजनीतिक प्रस्थिति	परिवार के उद्गम विषयक दावों का स्वरूप
नंदीपुरी के गुर्जर	सातवीं शताब्दी[45]	गुर्जर-नृपति वंश	सामंत, जिसका निर्देश 'महासामंत' आदि उपाधियों में मिलता है किंतु इस दावे से उनकी विशेष स्थिति का आभास होता है जिसके अनुसार उन्होंने अपने स्वामी को सुरक्षा प्रदान की थी।	कुछ अभिलेखों में महाराज कर्ण से हुई उत्पत्ति का दावा किया गया है और फिर यही नाम उनके वंश नाम के रूप में प्रयुक्त होने लगा।
मंदौर के प्रतीहार	837 ई०[46]	प्रतीहार वंश	—	एक ब्राह्मण की क्षत्रिय पत्नी के वंशज होने का दावा, जिसका निहितार्थ यह था कि वे ब्रह्म-क्षत्र स्तर सिद्ध कर रहे थे। राम के 'प्रतीहार' (द्वारपाल) के रूप में काम करने वाले लक्ष्मण से संबंध स्थापित किया गया।
	861 ई०[47]	प्रतीहार	—	ठीक उपरोक्त तुल्य किंतु पूर्ववर्ती अभिलेखों में वर्णित ब्राह्मण पत्नी के नाम का परित्याग।
राजस्थान एवं कन्नौज के प्रतीहार	नवीं शताब्दी[48]	प्रतीहार	सार्वभौम शक्ति	सूर्य से उत्पत्ति का दावा अर्थात राम के 'प्रतीहार' (द्वारपाल) लक्ष्मण के माध्यम से सूर्यवंशी होने का दावा।
	दसवीं शताब्दी[49]	उनके चाहमान सामंतों के अभिलेखों में अप्रत्यक्ष रूप से उल्लिखित	चाहमानों के अधिपति के रूप में वर्णित	रघुवंशी के रूप में वर्णित
अलवर में राजोर के गुर्जर-प्रतीहार	960 ई०[50]	गुर्जर-प्रतीहारान्वय	राजस्थान एवं कन्नौज के प्रतीहारों के सामंत	—

गुहिल

क्षेत्र	तिथि	कुल का नाम	राजनीतिक प्रस्थिति	परिवार के उद्गम विषयक दावों का स्वरूप
[illegible]ष्किधा गुहिल	सातवीं शताब्दी का द्वितीय चतुर्थांश[51]	गुहिलपुत्रान्वय	सामंत, जिसका निर्देश 'सामंत', 'समधिगतपंचमहाशब्द', 'महाराज' आदि जैसी उपाधियों में मिलता है।	—
[illegible]त्सु के गुहिल	दसवीं शताब्दी के मध्य में[52]	गुहिल वंश	मूलतः मौर्यों एवं प्रतीहारों के सामंत	'ब्रह्म क्षत्रान्वित'
[illegible]वाड़ के गुहिल	661 ई०[53]	गुहिलान्वय	—	—
	परंपरानुसार दसवीं शती के उत्तरार्ध से 11वीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक[54]	—	—	कुलसंस्थापक का वर्णन इस प्रकार मिलता है: 'आनंदपुर विनिर्गतविप्रकुलानंदः महीदेवः', जिसका निहितार्थ यह हुआ कि वंशोत्पत्ति आनंदपुर के ब्राह्मण परिवार से लगाई गई है।
	1285 ई०[55]	गुहिलवंश	—	अभिलेख में 'ब्रह्म-क्षत्र' प्रस्थिति का दावा निहित।
	1540 ई०[56]	शिलादित्य-वंश	—	सूर्यवंश, सूर्य से उद्गम का दावा

चाहमान

क्षेत्र	तिथि	कुल का नाम	राजनीतिक प्रस्थिति	परिवार के उद्गम विषयक दावों का स्वरूप
गुजरात के प्रारंभिक चाहमान	आठवीं शताब्दी के मध्य में[57]	चाहमान	सामंत, जिसका निर्देश 'महासामंताधिपति, समधिगतपंचमहाशब्द' आदि जैसी उपाधियों में मिलता है।	—
धोलपुर के चाहमान	827 ई०[58]	चाहमान	संभवतः प्रतीहारों के सामंत	—
नाडौल के चाहमान	1119 ई०[59]	चाहमान	—	इंद्र की आंखों से उत्पन्न एक व्यक्ति के माध्यम से वंशोत्पत्ति इंद्र से बताई गई है।
शकंभरी के चाहमान	946 ई०[60]	चाहमान	प्रतीहारों के सामंत	—
	1169 ई०[61]	चाहमान 'क्षिति-राजवंश'	स्वतंत्र शक्ति के रूप में	विप्रश्री वत्सगोत्र अर्थात ब्राह्मण वंशज
	12वीं शताब्दी[62]	चाहमान	वही	वंशोत्पत्ति सूर्य देवता से बताई गई है जिसे विष्णु की दाईं आंख के रूप में वर्णित किया गया है।
	1191 ई०[63]	चाहमान	वही	वंशोत्पत्ति सूर्य से बताई गई है और वंश का संबंध कृत युग के इक्ष्वाकुओं से स्थापित किया गया है।
आबू पर्वत के चाहमान	1320 ई०[64]	चाहमान	—	उत्पत्ति धर्मात्मा ऋषि वच्छ से बताई गई है, जिन्होंने सूर्य एवं चंद्र वंशों के समाप्त हो जाने पर योद्धाओं की नई जाति के रूप में चाहमान का सृजन किया।

ये तालिकाएं राजनीतिक प्रभुत्व की प्राप्ति एवं वंशानुगत कुलीनता के दावों के विभिन्न चरणों में घनिष्ठ संपर्क प्रदर्शित करती हैं, हालांकि विभिन्न व्यक्तियों द्वारा संरचित होने के कारण वंशावलियों का स्वरूप एकरूप नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि सामंतीय प्रस्थिति[65] उस अवस्था में कुछ असंगत थी, जबकि कुलीन वंशोत्पत्ति के विस्तृत एवं मनगढ़ंत उल्लेख किए जा सकते। अब तक उद्धृत प्रमाणों के अतिरिक्त एक अन्य नुक्ता इसको स्पष्ट कर देगा। जिस काल में किसी कुल के सार्वभौम परिवार की ओर से सम्मानपूर्ण वंशक्रम से युक्त विस्तृत वंशावलियां प्रस्तुत की जा रही थीं, उसी कुल के अन्य वर्ग ने, जो सामंतीय स्थिति में था, ऐसा कोई दावा नहीं किया। उदाहरणार्थ, दक्षिण गुजरात में मंगरौल से प्राप्त 1145 के एक गुहिल अभिलेख[66] में मंगलपुर के शासक और चौलुक्यों के सामंतों के रूप में गुहिलों की तीन पीढ़ियों का उल्लेख है, हालांकि उसी काल के दौरान गुहिलवंशी अन्यत्र सम्मानपूर्ण वंशक्रम के दावे कर रहे थे।

जब वंशावलियों के निरूपण के विभिन्न चरणों पर दृष्टिपात किया जाता है तो यह और अधिक स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश नवोदित शाही वंशों के लिए 'ब्रह्मक्षत्र' एक संक्रमणात्मक प्रस्थिति थी, किंतु यह एक बार प्राप्त कर लेने पर पूर्णतया छोड़ी नहीं जाती थी और ब्राह्मण से क्षत्रिय प्रस्थिति की ओर उन्मुख तथाकथित प्रामाणिक संक्रमण के लिए लगातार व्याख्याएं दी जाती रहीं। यदि गुहिलों एवं चाहमानों के अपेक्षाकृत उत्तरकालीन अभिलेखों के आधार पर यह स्वीकार कर लिया जाए कि वे दोनों मूलतः ब्राह्मणों के वंशज थे—हालांकि उनके प्रारंभिक अभिलेखों में ऐसा कोई दावा नहीं मिलता—तो उनकी नई क्षत्रिय भूमिका को वैधता प्रदान करने के लिए ही उपरोक्त प्रस्थिति प्रस्तुत की जा रही थी। इस काल के दौरान 'ब्रह्मक्षत्र' की विस्तृत लोकप्रियता[67] से यह भी संभव प्रतीत होता है कि वह अपेक्षाकृत अधिक खुली प्रस्थिति थी जिसे नवोदित शाही वंश अपनी विशुद्ध क्षत्रिय उत्पत्ति उद्घोषित करने से पूर्व अपना लेते थे। संभवतः यह क्रमिक परिवर्तन, जोधपुर क्षेत्र से नवीं शताब्दी के दो प्रतीहार अभिलेखों की तुलना द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है। जबकि 837 ई० का एक अभिलेख[68] प्रतीहार ब्राह्मणों एवं प्रतीहार क्षत्रियों की उत्पत्ति की व्याख्या हरिचंद्र ब्राह्मण की दो पत्नियों—एक ब्राह्मण और दूसरी क्षत्रिय—के परिप्रेक्ष्य में करता है; 861 ई० के दूसरे अभिलेख में[69] वंशावली में ब्राह्मण पत्नी का उल्लेख नहीं है। ब्राह्मणीय उत्पत्ति के उल्लेख को जारी रखने और विशुद्ध वंशोत्पत्ति बनाए रखने की उत्सुकता से उसका संबंध उतना ही घनिष्ठ था जितना कि क्षत्रिय प्रस्थिति के सम्मानपूर्ण स्रोत को ढूंढ़ने की आवश्यकता का। जोधपुर प्रतीहारों की वंशावली का आरंभ हरिचंद्र से होता है, जो एक अभिलेख में 'प्रतीहारवंशगुरु' के रूप में वर्णित है,[70] किंतु इस स्रोत से संबंधित होने का एक विस्तृत वक्तव्य अचलेश्वर (आबू पर्वत) से प्राप्त 1285 के एक गुहिल अभिलेख में मिलता है :

> निस्संदेह, बप्पक ने एक नूपुर के रूप में ह्मसदृश हारीत (ब्रह्मारितराशि=ऋषि) से क्षत्रिय की दमक प्राप्त की और बदले में ऋषि को अपनी श्रद्धा के रूप में अपनी ब्राह्मणीय दमक प्रदान की। इसीलिए उस वंश के वंशज अब तक इस पृथ्वी पर मानवीय रूप में क्षत्रियत्व के समान दमकते हैं।[71]

यद्यपि ठीक इसी रूप में तो नहीं किंतु इससे मिलते-जुलते रूप में राजपूत प्रस्थिति का दावा करने वाले बिहार के कुछ चेरो अपनी वंशोत्पत्ति च्यवन ऋषि से बताते हैं।[72]

इन सबसे यह स्पष्ट हो जाता है कि शासक कुलों की सामंतीय से स्वतंत्र प्रस्थिति की ओर हुए परिवर्तन काल के दौरान निरूपित विस्तृत वंशावलियों का बाह्याकलन, उनकी

वास्तविक उत्पत्ति के मूल्यांकन के लिए कठिनता से ही किया जा सकता है, हालांकि इन वंशावलियों के कुछ भाग प्रामाणिक परंपरा पर आधारित हो सकते हैं। इस प्रकार वंशानुगत दावों के निरूपण के विभिन्न चरण भी एक राजनीतिक प्रक्रिया की ओर इंगित करते हैं—यह प्रक्रिया है आरंभिक सामंतीय स्थिति से ऊर्ध्वोमुख गतिशीलता की। गुजरात गुर्जरों की उपाधियों एवं वलभी नरेशों के प्रति उनकी राजनिष्ठा की घोषणा—दोनों में उन्हें सामंत कहा गया है। किष्किंधा एवं धवगर्ता के प्रारंभिक गुहिल भी सामंत थे और ऐसा प्रतीत होता है कि मेवाड़ के गुहिल वंश के पारंपरिक संस्थापक अर्थात बप्पा रावल ने भी अपना जीवन सामंतीय प्रस्थिति से आरंभ किया था—यह बात 'रवल' ('राजकुल' तुल्य, जो कभी कभी अधीनस्थ स्थिति से संबंधित मानी जाती थी) उपाधि से स्पष्ट होती है। गुजरात एवं राजस्थान दोनों के चाहमान स्पष्ट रूप से गुर्जर-प्रतीहारों के सामंत थे और यह महत्वपूर्ण तथ्य हो सकता है कि चाहमान वंशावली में दूसरा नाम 'सामंत' है (जो अप्रत्यक्ष रूप से सामंतीय प्रस्थिति की ओर इंगित करता है), जो अगले नाम अर्थात 'नृप' अथवा 'नरदेव' (दोनों का अर्थ नरेश होता है) के ठीक विपरीत है।[73] यह स्पष्ट ही है कि सामंतीय से स्वतंत्र प्रस्थिति का संक्रमण सैनिक शक्ति के विकास के माध्यम से हुआ था। नंदीपुरी के गुर्जर गर्व से इस बात की घोषणा करते हैं कि उन्होंने हर्ष द्वारा पराजित वलभी नरेश को शरण दी थी।[74] चाहमानों के हंसोट अभिलेख इस स्तुति से आरंभ होते हैं, 'एक विशाल सेना से युक्त चाहमान वंश विजयी हो।'[75] इसी प्रकार राजस्थान के चाहमान एवं प्रतीहार सामंत परिवारों के अभिलेख, गुर्जर-प्रतीहार अधिपतियों के सैनिक अभियानों में उनकी भूमिका का विस्तृत विवरण देते हैं।[76]

अभी जो दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है, वह रोचक लगना चाहिए क्योंकि इससे यह प्रकट होता है कि प्रारंभिक राजपूत कुलों का उदय, विद्यमान पदसोपानात्मक राजनीतिक ढांचे के अंतर्गत ही हुआ था। उत्तरी भारत के राजनीतिक मंच पर राजपूतों द्वारा आकस्मिक एवं देदीप्यमान प्रथम प्रयास को प्रदर्शित करने की उत्सुकता में प्रायः इस दृष्टिकोण की अवहेलना कर दी जाती है। अनेक कारणों से इस आरंभिक राजनीतिक चरण को जान लेना महत्वपूर्ण है। यह हमें एक ऐसा सुविधापूर्ण केंद्रबिंदु प्रदान करता है जहां से आगे की प्रक्रियाओं का परीक्षण किया जा सकता है, अर्थात, राजनीतिक उत्कर्ष के अपने प्रयास में राजपूत कैसे अपनी आरंभिक स्थिति से अपने हितों की सिद्धि के लिए आर्थिक एवं सामाजिक आधार बनाने की प्रक्रिया की ओर अग्रसर हुए।

III

अर्थव्यवस्था के स्तर पर आरंभिक राजपूतों के उदय की प्रक्रिया का संबंध भूमि वितरण की कुछ नई विशेषताओं तथा क्षेत्रीय व्यवस्था से था जो संभवतः प्रतीहारों एवं चाहमानों के बड़े साम्राज्यों और गुहिलों के से स्थानीय राज्यों—दोनों में विद्यमान थी। इन विशेषताओं का प्रायः विवेचन हो चुका है,[77] किंतु किसी न किसी रूप में काफी बाद के काल तक राजपूतों से उनका संबंध बने रहने के कारण हम केवल प्रारंभिक राजपूतों के बीच कुल के जाल के संगठन के संदर्भ में उनका परीक्षण करेंगे। शाही सकुल्यों के बीच भूमि का वितरण[78] एक ऐसी विशेषता है जो इस काल के दौरान अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा राजस्थान में अधिक दृष्टिगोचर होती है। किंतु यह जान लेना आवश्यक है कि यह विशेषता उस प्रक्रिया का प्रतिनिधित्व करती प्रतीत होती है जो शनैः शनैः विकसित हुई और जो विशेष रूप से चाहमान कुल के विस्तार से संबंधित थी। चूंकि प्रतीहार साम्राज्य अत्यंत विस्तृत था अतः दानग्राहियों का स्वरूप भी भिन्न भिन्न

प्रकार का था,[79] हालांकि 'वंशपोतकभोग'[80] (यह अलवर के गुर्जर-प्रतीहार मठन के राजोगढ़ अभिलेख में मिलता है) जैसी अभिव्यक्तियों का अर्थ कुल पितृत्व के रूप में लगाया गया है। यद्यपि तत्कालीन भूमि वितरण की व्यवस्था में कुल पृथकत्व के दृढ़ होने की संभावना नहीं थी फिर भी वह कुछ सीमा तक एक उत्तरकालीन संदर्भ में राजस्थान में धुंधले से रूप में दृष्टिगोचर होता है; और जैसा हम पहले ही कह चुके हैं, वह विशेष रूप से चाहमानों से संबंधित था। जयपुर क्षेत्र से प्राप्त 973 ई० का हर्ष अभिलेख [81] संभवतः इस विवरण का प्राचीनतम प्रमाण प्रस्तुत करता है। इसमें राजा सिंहराज, उसके दो भ्राताओं अर्थात वत्सराज एवं विग्रहराज और चंडराज एवं गोविंदराज नामक दो पुत्रों के 'स्वभोगों' (निजी जागीर) का उल्लेख है। इस अभिलेख के एक अन्य 'भोग' धारी दानग्राही का भी उल्लेख है जो संभवतः गुहिल कुल का था। एक अधिकारी, 'दुःसाध्य' ने अपनी भी जागीर इसी राज्य में ले रखी थी किंतु स्पष्टतः उसके अधिकार सीमित थे क्योंकि भूमि दान करने का उसे अधिकार था किंतु इसके लिए उसे राजा से अनुमति लेनी पड़ती थी, जबकि अन्य लोगों को ऐसी अनुमति की आवश्यकता न थी और वे स्वयं भूमि दान करते थे। 12वीं शताब्दी तक इस प्रक्रिया में निरंतर परिवर्तन होते रहे, जबकि नाडौल चाहमानों के अधीन क्षेत्र में 'ग्रास', 'ग्रासभूमि' अथवा 'भुक्ति' नामक विभिन्न नामों वाली जागीरों पर राजा, कुमार अथवा युवराज, 'राजपुत्रों' अर्थात राजा के पुत्र, रानियों का, और एक दृष्टांत में तो राजा के मामा (जो स्पष्टतः उसी कुल का सदस्य न था) का भी अधिकार होने लगा।[82]

कुछ सीमा तक इससे जुड़ी हुई किंतु व्यवहार में इससे अलग भी भूमि की एक अन्य इकाई थी जो छः ग्रामों और उसके गुणनफल से संबद्ध प्रतीत होती है।[83] इस भू इकाई का प्रयोग केवल राजस्थान तक सीमित न था; फिर भी इस काल के दौरान अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा पश्चिमी भारत में इसका प्रयोग कुछ अधिक होता था। अनेक दृष्टांतों में ये इकाइयां 'मंडल', 'भुक्ति' अथवा 'विषय' जैसे प्रशासनिक खंडों का अंग थीं[84] किंतु अभिलेखों में ऐसे वक्तव्य हैं कि ग्राम ऐसी इकाइयों से 'प्रतिबद्ध' थे। इन वक्तव्यों से इस बात का संकेत मिलता है कि ये इकाइयां एक प्रकार के स्थानीय नियंत्रण के मूल केंद्रबिंदु थे। ऐसा प्रतीत होता है कि 84 ग्रामों की इकाइयों के प्राचीनतम उल्लेख सौराष्ट्र में प्राप्त होते हैं[85] जो नवीं शताब्दी के अंत में गुर्जर-प्रतीहारों के अधीन था और राजस्थान में इस व्यवस्था के प्रसार का उद्देश्य, संभवतः शासन करने वाले विशिष्ट वर्ग के सदस्यों के बीच ही भूमि एवं राजनीतिक नियंत्रण के वितरण को सुगम बनाना था। हमारे द्वारा ऊपर उद्धृत 973 ई० का हर्ष अभिलेख, चाहमान नरेश सिंहराज द्वारा शासित बारह के तृणकूपक समूह का उल्लेख करता है। ग्यारहवीं शताब्दी में चच्छुरिणी मंडल में स्थित···'रुद्रहट्टादश' पर कोटा के परमारों का अधिकार था,[86] और 1160 में नड्डुलइ से संबद्ध बारह ग्राम ('नड्डुलइ-प्रतिबद्धद्वादश ग्रामाणि') चाहमान आल्हण एवं उसके बड़े पुत्र ने छोटे पुत्र कीर्तिपाल को दे दिए।[87] 'विशालदेव रासो' के साक्ष्य से प्रकट होता है कि 14वीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक 'चौरासिया' अर्थात 84 ग्रामों का अधिकारी 'मुखियों की एक विख्यात श्रेणी'[88] का रूप धारण कर चुका था और यदि उपरोक्त साक्ष्यों से कोई निर्देश मिलता है तो वह यह कि इन बड़ी जागीरों का जन्म, शासक कुलों के सदस्यों के बीच ही भूमि वितरण की प्रक्रिया से हुआ था। यद्यपि राजपूतों की क्षेत्रीय व्यवस्था में 'चौरासिया' प्रणाली सदा ही पूर्ण रूप से नहीं अपनाई जाती थी फिर भी उसने उस व्यवस्था को एक 'सैद्धांतिक ढांचा' अवश्य प्रदान किया जिसमें इकाइयों का पद सोपान तथा कुल सदस्यों एवं इकाइयों के पारस्परिक संबंधों को पर्याप्त सुचारु रूप से निश्चित किया जा सकता था।[89] यह स्पष्ट है कि ऐसे संबंधों को पहचानने

के लिए हमारे अभिलेखों में विवरण नहीं मिलते किंतु यह महत्व की बात है कि अभिलेखीय साक्ष्यों के अपर्याप्त होने पर भी, 'चौरासिया' प्रणाली के मूलांगों और भू वितरण से उसके संबंध को राजपूत राजनय व्यवस्था के दृढ़ीकरण के आरंभिक चरणों में भी देखा जा सकता है।

राजपूतों के उत्कर्ष के प्रारंभिक चरण के साथ ही एक बड़े पैमाने पर दुर्गों का निर्माण हुआ। यह विशेषता राजस्थान के पूर्ववर्ती साम्राज्यों में नहीं दिखाई देती[90] किंतु बाद में राजपूत क्षेत्रीय व्यवस्था का अभिन्न अंग बन गई। पूर्व मध्ययुगीन अभिलेख राजस्थान के विभिन्न भागों में उनके स्थित होने के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं, यथा, भरतपुर क्षेत्र में काम्यकीयकोट्ट,[91] अलवर में राजोर के स्थान पर राजयपुर[92] जोधपुर के निकट मंदौर में मांडव्यपुर दुर्ग,[93] चित्तौड़ में चित्रकूट महादुर्ग,[94] कोटा में शेरगढ़ में कोषवर्धनदुर्ग,[95] जालौर में सुवर्ण गिरि दुर्ग,[96] भीन्मल में श्रीमालीयकोट्ट,[97] तक्षकगढ़[98] एवं अन्य स्थानों के दुर्ग। ये दुर्ग सुरक्षा का ही कार्य नहीं करते थे, अपितु, जैसाकि उनमें से कुछ की जनसंख्या के गठन से प्रकट होता है, उनसे अनेक प्रयोजन सिद्ध होते थे।[99] वे उत्कर्षशील शासक परिवारों के अनेक शक्ति केंद्रों का प्रतिनिधित्व करते थे और ऐसा प्रतीत होता है कि पड़ोसी क्षेत्रों में भूमि जागीरों से भी उनका घनिष्ट संबंध था। परमार देवराज के 1052 ई० के रोपी दानपत्र में देवराज के 'स्वभुज्यमान विषय' में एक भू क्षेत्र के दान का उल्लेख है और यह भूमि श्रीमालीयकोट्ट के दक्षिण में स्थित थी।[100] उसकी सीमाओं के अंतर्गत दो ब्राह्मणों की एवं एक 'महासामंताधिपति' की भूमि सम्मिलित थीं। कोटा जिला में शेरगढ़ से प्राप्त तथा परमार उदयादित्यकालीन एक अन्य अभिलेख में विलपद्रक ग्राम का उल्लेख है जो कोषवर्धनदुर्ग में एक मंदिर के अधीन था।[101]

दान दी गई भूमि के संदर्भ में 'दुर्गों' के उल्लेख स्पष्टतः इस तथ्य की ओर इंगित करते हैं कि दुर्ग अपने चारों ओर के ग्रामीण क्षेत्र के नियंत्रण केंद्र थे। गुर्जर-प्रतीहारों के काल के गोपगिरि अभिलेखों[102] से इस विषय की और अधिक पुष्टि की जा सकती है क्योंकि ये अभिलेख भी पूर्वमध्ययुगीन दुर्गों के ऐसे ही नियंत्रण की ओर इंगित करते हैं। इस प्रकार प्रशासनिक इकाइयों की तरह विकसित होने वाली इकाइयों के रूप में दान दी जाने वाली भूमि के साथ साथ बड़ी संख्या में दुर्गीय बस्तियों के निर्माण को शासक कुलों द्वारा अपनी स्थिति के संगठन की प्रक्रिया के अंग के रूप में देखा जा सकता है।

सामाजिक संबंधों के स्तर पर इस प्रक्रिया के स्पष्ट सूचक तो कुलों के पारस्परिक वैवाहिक संबंध हैं। दुर्भाग्यवश, अभिलेखों से प्राप्त होने वाली सूचना कुछ सीमित है और इसीलिए जब वंशावलियों में विवाह के कुछ दृष्टांतों का उल्लेख मिलता है तो यह निश्चित रूप से माना जा सकता है कि उनका वर्णन इसीलिए किया गया था क्योंकि वे परिवार के लिए महत्वपूर्ण राजनीतिक निहितार्थों से युक्त थे। प्रतीहार कुल से आरंभ करके तिथि क्रमानुसार आगे बढ़ते हुए हमें वैवाहिक पद्धति में एक परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है जिसमें वंश की कथित उत्पत्ति ही महत्वपूर्ण भूमिका नहीं निभाती वरन अंतर्कुलीन संबंधों की प्रणाली भी विकसित होती दृष्टिगोचर होती है। जैसाकि पहले कह चुके हैं, जोधपुर क्षेत्र से प्रतीहार वंश के 837 ई० के एक अभिलेख में वंश के संस्थापक के दो विवाहों का उल्लेख है, जिनमें से एक ब्राह्मण और दूसरा क्षत्रिय पत्नी से हुआ था। 861 ई० के एक अन्य अभिलेख में वंश क्रम के वर्णन में ब्राह्मण पत्नी का नाम छोड़ दिया गया। वंशावली के अंत में कक्क द्वारा, जो वंशावली के अंतिम एवं तत्कालीन शासक के अत्यंत निकट था, भट्टि कुल की पद्मिनी से विवाह करने का उल्लेख है। कुछ लोग इन भट्टियों को जैसलमेर क्षेत्र के भट्टि बताते हैं।[103] अन्य कुलों के अभिलेखों से भी ऐसे प्रारूप की दिशा में हो रहे विकास के प्रमाण मिलते हैं जो अधिकांश शासक राजपूत कुलों को

समाहित किए हुए था। चाहमानों के अभिलेखों में राष्ट्रकूटों, राष्ट्रौढ़ों अथवा राठौरों के प्रति विशिष्ट रुझान का परिचय मिलता है। इस कुल के एक 'राजक' त्रिभुवनेश्वर का विवाह राष्ट्रकूट लक्ष्मीदेवी से हुआ था।[104] नाडौल के चाहमान वंश के आल्हण ने भी राष्ट्रकूट कुल की अन्नल्लदेवी से विवाह किया था।[105] राजस्थान के परमारों के ज्ञात वैवाहिक संबंधों में चाहमानों से हुए संबंध प्रमुख हैं। आबू पर्वत के परमार धारावर्ष ने चाहमान केल्हणदेव की पुत्री से विवाह किया।[106] वागड़ा कुल के परमार सत्यराज का विवाह राजश्री से हुआ जो अन्य चाहमान कुल की प्रतीत होती है।[107] किंतु गुहिलों के वैवाहिक संबंध अधिक विविध एवं व्यापक थे। क्रमशः 1000 ई०[108] और 1008 ई०[109] के दो अभिलेख नागर्हद के गुहिल 'महासामंताधिपति' की दो पत्नियों का उल्लेख करते हैं : एक तो 'महाराज्ञी' सर्वदेवी थी जो सूर्यवंशी 'महासामंताधिपति' की पुत्री थी; दूसरी 'महाराज्ञी' जजुका थी जो इसी प्रकार से भरुकच्छ के सूर्यवंशी 'महासामंताधिपति' की पुत्री थी। गुहिल शाही परिवार की आल्हणदेवी का विवाह चेदिवंशी गोयाकर्ण से हुआ था।[110] विशिष्ट राजपूत कुलों से किए गए गुहिल वैवाहिक संबंधों में चालुक्यों,[111] परमारों,[112] राष्ट्रकूटों,[113] चाहमानों,[114] एवं हूणों,[115] से किए गए संबंध सम्मिलित थे। वैवाहिक संबंधों पर आधारित अंतर्कुलीय संबंध किसी निश्चित काल में दो कुलों तक भी सीमित हो सकते थे और प्रतिरूप में पाई जाने वाली अनुरूपता ऐसे कुलों के पारस्परिक राजनीतिक संबंधों के स्वरूप के कारण हो सकती थी, अथवा, जैसाकि गुहिलों के दृष्टांत से स्पष्ट है, वह पर्याप्त व्यापक भी हो सकती थी। किंतु ये संबंध अधिकांशतः उन्हीं कुलों के बीच होते थे जो राजपूत श्रेणी में आ चुके थे। चुनाव अनिवार्यतः राजनीतिक कारणों पर आधारित था क्योंकि यहां पर जिन कुलों का उल्लेख किया गया है, वे पूर्व मध्ययुगीन राजस्थान के विशिष्ट शासक वर्ग थे। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि वैवाहिक संबंधों से प्रकट होने वाले अंतर्कुलीय संबंधों के व्यापक सामाजिक निहितार्थ भी थे। वह हूणों के से वर्गों को सामाजिक वैधता प्रदान कर सकते थे। इस काल तक हूणों ने पश्चिमी भारत में पर्याप्त राजनीतिक शक्ति प्राप्त कर ली थी[116] और अंत में वे राजपूत कुल सूची में सम्मिलित कर लिए गए थे। दूसरे, अंतर्कुलीय वैवाहिक संबंधों ने संभवतः सामाजिक एवं राजनीतिक गतिविधियों के अधिक व्यापक क्षेत्र में पारस्परिक सहयोग को प्रोत्साहन दिया होगा। उदाहरणार्थ, एक हूण राजकुमारी से विवाहित गुहिल नरेश अल्लट के पुत्र नरवाहन के राज्य की 'गोष्ठी' में एक हूण सदस्य भी था।[117] इसी प्रकार, हष्टिकुंडि राष्ट्रकूटों के कुल का अन, परमार धारावर्ष के साम्राज्य में एक धार्मिक संस्थान की गतिविधियों में भाग लेता था क्योंकि धारावर्ष ने हष्टिकुंडि परिवार से वैवाहिक संबंध स्थापित किए थे।[118] हिस्सार जिले के हांसी से प्राप्त 1168 ई० के एक अभिलेख में पृथ्वीराज चौहान के मातुल गुहिलौत किल्हण का उल्लेख है, जिसे चाहमानों के आसिकदुर्ग की देखरेख का भार सौंपा गया था।[119] स्पष्टतः ये उदाहरण अपर्याप्त हैं किंतु अंतर्कुलीय संबंध उस प्रक्रिया के सम्यक ज्ञान का कुंजी है जिसके द्वारा पूर्व मध्ययुग में राजपूत राजनय व्यवस्था का विकास हुआ।

IV

पूर्व मध्ययुग में राजपूतों के उदय को जन्म देने वाली प्रक्रियाओं के विवेचन में हमने अब तक कुछ प्रमुख शासक कुलों पर ही ध्यान केंद्रित किया है। जैसाकि नाडौल चाहमानों के अभिलेखों[120] से प्रकट होता है कि यद्यपि 'महाराजकुमार' सहित 'राजपुत्र' शब्द का अर्थ 'राजा का पुत्र' ही बना रहा फिर भी उसके अर्थ में निश्चय ही क्रमिक परिवर्तन हुआ था, क्योंकि अब

उसका अर्थ विशिष्ट रूप से ऊंची राजनीतिक प्रस्थिति की ही ओर नहीं अपितु एक वंशज समूह की ओर भी संकेत करता था। 1301 ई० के एक चित्तौड़ अभिलेख में 'राजपुत्रों' की तीन पीढ़ियों का उल्लेख है[121] जो संभवतः इस बात का संकेत है कि 13वीं शताब्दी के अंत तक 'राजपुत्र' शब्द केवल एक राजनीतिक प्रस्थिति ही इंगित नहीं करता था वरन इसमें वंश परंपरा का तत्व भी निहित था। हेमचंद्र कृत 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' में 'राजपुत्राकः' अर्थात 'राजपुत्र' उत्पत्ति के अनेक व्यक्तियों का उल्लेख है;[122] आबू पर्वत से प्राप्त ग्यारहवीं शताब्दी के अंतिम चरण के एक अभिलेख में "गौरवशाली 'राजपुत्र' कुल के सभी 'राजपुत्रों' " का वर्णन है।[123] अपने ग्रंथ 'प्रबंधचिंतामणि' में मेरुतुंग ने परमार वंश के सौ 'राजपुत्रों' का उल्लेख किया है।[124] अतः यह बात ग्राह्य है कि शासक विशिष्ट वर्गों में 'राजपुत्र' शब्द का व्यापक अर्थ था : 'राजा के वास्तविक पुत्र से लेकर निम्नतम श्रेणी का भूस्वामी।'[125] राजपूत रूप में मान्यता प्राप्त वास्तविक कुलों के संदर्भ में 'कुमारपालचरित' एवं 'राजतरंगिणी' से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी संख्या पर्याप्त बड़ी हो गई थी। किंतु इन ग्रंथों में दी गई संख्या से 36 कुलों के दृढ़ समूह का आशय इतना महत्व नहीं रखता जितना कि वंशोत्पत्ति के आधार पर 'राजपुत्रों' को अन्य लोगों से भिन्न बताने का विचार। यहां पर 'राजतरंगिणी' के एक प्रासंगिक उद्धरण को उद्धृत करना अनुचित न होगा : 'यहां तक कि अनंतपाल एवं अन्य राजपुत्र, जो 36 कुलों से अपनी उत्पत्ति का दावा करते हैं और जो अपने गर्व के कारण स्वयं सूर्य को भी अपने से श्रेष्ठ नहीं मानते···।'[126]

लगभग 12वीं शताब्दी से हमें विशिष्ट शासक वर्ग के लिए प्रयुक्त ऐसी विविध उपाधियों का उल्लेख मिलता है जो 'सामंत' एवं 'महासामंत' आदि उपाधियों से भिन्न हैं, जिनका प्रयोग अब कुछ कम हो गया था। सर्वाधिक प्रयुक्त उपाधियां हैं 'राजपुत्र', 'रौत्त' अथवा 'राउत', 'राजकुल' अथवा 'रावल', 'महाराजकुल' अथवा 'महारावल' आदि और कभी कभी इनके साथ 'सामंत', 'महामंडलेश्वर'[127] अथवा 'महामांडलिक'[128] जैसी सरकारी उपाधियां जोड़ दी जाती थीं, जो प्रशासनिक व्यवस्था में 'राजपुत्रों' एवं अन्य संबंधित लोगों द्वारा प्राप्त दरजों की ओर संकेत करती हैं। 'राजकुल', 'राजपुत्र' अथवा 'राणक' जैसी सभी उपाधियों का सामान्य तत्व, राजा के साथ उनके संबंधों का है। यद्यपि एक 'राजपुत्र' अथवा 'राणक' का राजकीय परिवार के साथ प्रत्यक्ष संपर्क स्थापित करना सदा संभव नहीं हो पाता, फिर भी इन उपाधियों के प्रयोग की व्याख्या इस आधार पर की जा सकती है कि इनके उन कुलों के साथ एक बड़े पैमाने पर संबंध थे, जिनके कुटुंबों ने पूर्व मध्ययुगीन राजस्थान में शासक वर्ग की संरचना की थी। वस्तुतः, 12वीं शताब्दी के बाद गुहिल परिवारों के 'राजकुल' (1208 ई०),[129] 'महाराजकुल' (1186, 1292, 1302, ई०),[130] 'महारावल' (1302 ई०),[131] 'राणा श्री राजकुल' (1167 ई०),[132] 'ठक्कुर राउत' (1138 ई०),[133] तथा चाहमान परिवारों के 'राणक' (एक 'मांडलिक' का पुत्र),[134] 'राजपुत्र' (1287 ई०)[135] आदि के उल्लेख काफी मात्रा में मिलते हैं। निश्चय ही इन प्रमाणों का यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि 'राजपुत्र' एवं ऐसी अन्य प्रतिष्ठित उपाधियां कुछ चुनींदा कुलों तक ही सीमित थीं। अभिलेखों में कर्नाट प्रदेश से श्री वंशगोत्रिय 'राउत' (1156 ई०),[136] गुर्जर जातीय 'ठक्कुर' (1283 ई०)[137] अथवा 'राणक'[138] के उल्लेख मिलते हैं, जो उस पद्धति के लचीलेपन के द्योतक हैं, जिसमें राजनीतिक नेतृत्व एवं शक्ति से युक्त नवीन समूहों को आत्मसात किया जा सकता था।

पूर्व मध्ययुग में प्रतिष्ठित कुलों में एवं उनके बाहर भी राजपूतों का प्रगुणन, उनकी राजनीतिक प्रभुता के ढांचे के विश्लेषण के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण सूचक है। पारंपरिक 'क्षत्रिय'

वर्गों अथवा राजस्थान के विशिष्ट शासकीय वर्गों की परिवर्तनशील प्रस्थिति के संबंध में कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है और इस बात का भी पूर्वानुमान लगाया जा सकता है कि यदि वे शक्तिशाली बने रहे तो राजपूत ढांचे में ही सम्मिलित हो गए होंगे। किंतु 10वीं शताब्दी के दो अभिलेख इस बात की संभावना को भी प्रदर्शित करते हैं कि पारंपरिक 'क्षत्रियों' में से कुछ वंश परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजर रहे थे। जोधपुर के निकट मंदकिल से प्राप्त 956 ई० के एक अभिलेख[139] में एक विद्वान क्षत्रिय के पुत्र का उल्लेख है जिसने एक 'प्रशस्ति' को उत्कीर्ण किया था। व्यवसाय की दृष्टि से वह 'सूत्रधार' था। एक अन्य अभिलेख में, जो उत्तर प्रदेश में दोआब क्षेत्र से प्राप्त हुआ है तथा दसवीं शताब्दी एवं गुर्जर-प्रतीहारों का है,[140] एक क्षत्रिय 'वणिक' का वर्णन है। यद्यपि ये उदाहरण निश्चित रूप से अपर्याप्त हैं फिर भी उनसे प्रकट होता है कि राजपूतों के प्रगुणन ने पूर्ववर्ती क्षत्रिय समूहों की राजनीतिक प्रस्थिति को पर्याप्त आघात पहुंचाया था क्योंकि वे अब कम प्रभावशाली व्यवसायों में लग रहे थे तथा शासक वर्ग के लिए प्रयुक्त शब्दों में अब 'क्षत्रिय' को नहीं अपितु 'राजपूत' को प्राथमिकता दी जाती थी।

एक परिकल्पना के रूप में पारंपरिक 'क्षत्रिय' वर्गों के स्थान पर राजपूतों का आना और राजपूत ढांचे के संगठित होने की प्रक्रिया को नवोदित कुलों में, केवल अंतर्कुलीय वैवाहिक संबंधों के रूप में ही नहीं अपितु राज्य व्यवस्था के विभिन्न स्तरों पर भाग लेने तथा विभिन्न साम्राज्यों एवं दरबारों में कुल सदस्यता के परिचक्रण के रूप में भी, पारस्परिक सहयोग का परिणाम कहा जा सकता है। यद्यपि इस प्रक्रिया का प्रारंभ प्रतीहारों, चाहमानों एवं अन्य राजपूतों के पारस्परिक सामंत-अधिपति संबंधों में दृष्टिगोचर होता है, फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि राज्य व्यवस्था के अन्य स्तरों पर पारस्परिक संबंधों का यह जाल धीरे धीरे ही फैला था। इस संदर्भ में राजस्थान से प्राप्त अभिलेखों के बदलते हुए स्वरूप की चर्चा से ही शुरुआत की जा सकती है। जबकि सातवीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी, और कुछ दृष्टांतों में तो बारहवीं शताब्दी तक के अभिलेखों के माध्यम से प्रसारित किए जाने वाले राज्यादेश विभिन्न श्रेणियों के अधिकारियों को संबोधित किए जाते थे (उदाहरणार्थ, 689 ई० के डूंगरपुर अभिलेख[141] में दी गई सूची इस प्रकार है: 'नृप', 'नृपसुत', 'संधिविग्रहाधिकृत', 'सेनाध्यक्ष', 'पुरोधा', 'प्रनातृ', 'मंत्री', 'प्रतीहार', 'राजस्थानीय', 'उपरिक', 'कुमारामात्य', 'विषयभोगपति', 'चौरोद्धोरणिके', 'शौल्किक', 'व्यापृतक', 'दंडपाशिक', 'चाट', 'भाट', 'प्रतिसरक', 'ग्रामाधिपति', 'द्रांगिक' आदि), उत्तरकालीन अभिलेखों में सामान्यतया ऐसे अधिकारियों की सूचियां नहीं मिलतीं। इस परिवर्तन का संभवतः सर्वश्रेष्ठ दृष्टांत नाडौल चाहमानों के 1161 ई० के एक अभिलेख में व्यक्त संबोधन के स्वरूप में दृष्टिगोचर होता है: 'देशांतो राजपुत्रान्जनपदगणान् बोधयत्येव।'[142] यहां पर 'जनपदगण' से भिन्न स्वयं 'राजपुत्र' ही पूर्ववर्ती अभिलेखों में वर्णित सभी श्रेणियों के अधिकारियों का प्रतिनिधित्व करते हुए प्रतीत होते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि प्राचीन ओहदे पूर्ण रूप से समाप्त हो गए थे। वास्तव में 12वीं शताब्दी से संबंधित परंपराओं के अनुसार,[143] चाहमान दरबार में एक सौ 'सामंत' थे। किंतु अभिलेखों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि ये उपाधियां अधिकांश उन्हीं समूहों के बीच परिचक्रित की जाती थीं जो 'राजपुत्र' होने का भी दावा करते थे। यद्यपि वर्मलाट के सातवीं शताब्दी के वसंतगढ़ अभिलेख में 'गोष्ठी' के प्रतीहार सदस्य का प्रारंभिक उल्लेख मिलता है,[144] फिर भी पर्याप्त उत्तरकाल में ही 'राजपुत्र' अथवा सामान्य रूप से विभिन्न कुलों के सदस्य, राजपूत सामाजिक-राजनीतिक ढांचे में विभिन्न पदों पर आसीन दृष्टिगोचर होते हैं। इस काल में विशिष्ट वर्गों के स्वरूप से संबंधित अभिलेखीय प्रमाण उस स्पष्ट प्रवृत्ति की ओर इंगित करते हैं जिसे हम पहले ही विभिन्न कुलों के पारस्परिक सहयोग की संज्ञा दे चुके हैं। उदाहरणार्थ, गुहिल अल्लट के अहद अभिलेख (942 ई०)[145] में एक 'गोष्ठी' के सदस्य के रूप में एक हूण और एक प्रतीहार का उल्लेख है, पुनः, गुहिल अरिसिंद के पल्लि अभिलेख (1059 ई०)[146] में एक 'सौलंकिवंशीय राजपुत्र' एक 'गोष्ठिक' के सदस्य के रूप में वर्णित है। वीरसिंह के मल ताम्रपत्र (1287 ई०)[147] में उल्लिखित विभिन्न गवाहों में एक 'राउत' भी है। इस संदर्भ में पृथ्वीराज चौहान के हंसि पाषाणाभिलेख[148] में कुछ प्रासंगिक सूचना मिलती है: (i) एक 'गुहिलौतान्वय' अर्थात गुहिल कुल के व्यक्ति को आसिक दुर्ग दिया गया था, (ii) एक दोड़ान्वय अर्थात दोड़ा उपकुल का एक व्यक्ति, पृथ्वीराज के मातुल के अधीन था। चाहमान शासन व्यवस्था में गुहिल एवं दोड़ा तत्वों का समावेश प्रदर्शित करने वाले ये दोनों उल्लेख किसी भी प्रकार से अपवाद नहीं हैं क्योंकि इसी साम्राज्य में हमें बोड़ाना वंश[149] के 'महामांडलिकों' तथा दधिच उत्पत्ति के सामंतों[150] की अन्य श्रेणियों का भी उल्लेख मिलता है। चाहमान साम्राज्य में गुहिल भूस्वामियों के विशिष्ट वर्ग की उपस्थिति का प्रमाण 1169 ई०[151] के बिझोलि अभिलेख में मिलता है, जो गुहिलपुत्र रावल धाधर एवं गुहिलपुत्र रावल व्याहरू द्वारा एक जैन मंदिर को दिए गए भूमिदान का उल्लेख करता है। 1163 ई० के दिल्ली-शिवालिक स्तंभ अभिलेख[152] में श्री सल्लक्षणपाल नामक एक 'राजपुत्र' को इसी वंश के विग्रहराज के 'महामंत्री' के रूप में वर्णित किया है। नाडौल चाहमानों के साम्राज्य में 1164 ई० में एक राष्ट्रकूट अथवा राठौर कुल का सदस्य संभवतः 'तलार' के रूप में कार्य करता था।[153] इस प्रकार की सूचना अन्य साम्राज्यों से भी प्राप्त होती है। 1287 ई० के एक अभिलेख में[154] सिरोहि परमारों के साम्राज्य में महत्वपूर्ण जमींदारों के रूप में एक गुहिलपुत्र और उसके साथ साथ देवरा उपकुल के सदस्य का उल्लेख है। बारहवीं शताब्दी के मध्य और तेरहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के बीच दक्षिण राजस्थान के चौलुक्यों के सामंत परमार[155] एवं चाहमान[156] थे। ये चंद उदाहरण ऐसी ही सूचनाओं के व्यापक रूप का प्रतिनिधित्व करने में समर्थ हैं और संभवतः यह भी प्रदर्शित कर सकते हैं कि कुल के बीच ही सजातीय बंधनों के अतिरिक्त, जिन्हें हम पहले ही भूमि वितरण को कम से कम आंशिक रूप में प्रभावित करने वाला बता चुके हैं, शक्ति संतुलन को शासित करने वाले अंतर्कुलीय संबंधों ने पूर्व मध्ययुग में राजपूत शासन व्यवस्था के संगठन में पर्याप्त सहायता दी।

इस काल की सैनिक गतिविधियों में उदीयमान कुलों द्वारा लिए गए भाग के स्वरूप एवं घटनाक्रम के विश्लेषण से उपरोक्त तर्क का विस्तार किया जा सकता है। यद्यपि विभिन्न स्तरों के योद्धाओं की संरचना से संबंधित लगभग कोई भी प्रत्यक्ष एवं विस्तृत प्रमाण प्राप्त नहीं हैं किंतु इस संदर्भ में एक विशेष प्रकार से उत्कीर्ण पाषाणों के प्रमाणों का प्रयोग कर सकते हैं। यद्यपि इन उत्कीर्ण पाषाणों की प्रथा का आरंभ पर्याप्त पहले ही अन्यत्र हो चुका था, किंतु पूर्व मध्ययुग के बाद ये राजस्थान में अत्यंत लोकप्रिय हो गए थे।[157] ये पाषाण स्मारक चिह्न हैं, जिन्हें सामान्यतया अभिलेखों में 'गोवर्धनध्वज'[158] एवं 'पलिय' अथवा 'देवलि', 'देउलि', अथवा 'देवकुलिका'[159] के नामों से वर्णित किया गया है। इनकी स्थापना मृत्यु, जिसमें रणक्षेत्र में हुई मृत्यु भी शामिल है, के स्मारक के रूप में होती थी। सामान्यतया ये स्मारक पाषाण जिन सामाजिक वर्गों का वर्णन करते हैं, वे पर्याप्त व्यापक हैं, किंतु हिंसात्मक मृत्यु के स्मारक अधिकतर ऐसे वर्गों से संबंधित हैं, जो राजपूत कहलाए जाने लगे। कम से कम पूर्व मध्ययुग में तो सामान्य रूप से अवरोक्त श्रेणी के स्मारकों की संख्या अन्य वर्गों के लोगों के स्मारकों से कहीं अधिक है।[160] इन स्मारक पाषाणों में वर्णित विभिन्न कुलों के नाम इस प्रकार हैं: प्रतीहार,[161]

चाहमान,[162] गुहिल,[163] परमार,[164] सोलंकि,[165] राठोड़,[166] चंदेल,[167] महावराह,[168] मांगलिय,[169] बोड़ाना,[170] मोहिल,[171] देवरा,[172] दोड़ा,[173] दहिय,[174] पवार,[175] दोहर,[176] भिचि,[177] घंगल,[178] धकंट,[179] आदि। इसके अतिरिक्त अनेक दृष्टांतों में स्मरणीय व्यक्ति की राजनीतिक एवं सामाजिक प्रस्थिति को इंगित करने वाली उपाधियां भी उन्हीं अभिलेखों में वर्णित होती हैं, उदाहरणार्थ, 'राजा',[180] 'महासामंत',[181] 'राणा',[182] 'राउत' अथवा 'राजपुत्र'[183] आदि कुछ ऐसी ही उपाधियां हैं। स्मृति पाषाण की अवधारणा किसी अन्य स्रोत से ली हुई हो सकती है किंतु जिस प्रकार से उनका विकास हुआ और उनमें से अधिकांश स्मारक पूर्व मध्ययुगीन राजस्थान के जिन संदर्भों का प्रतिनिधित्व करते हैं, वे मुख्य रूप से उन नवीन 'क्षत्रिय' वर्गों से संबंधित हैं जिन्होंने सामूहिक रूप से राजस्थान की राजनीतिक व्यवस्था का निर्माण किया।

V

पिछले खंड में वर्णित उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि पूर्व मध्ययुग में राजपूतों के प्रगुणन का एक महत्वपूर्ण पक्ष अनेक छोटे छोटे कुलों का उदय एवं बड़े कुलों का उपविभाजन था। हम पहले ही परमार कुल के सौ 'राजपुत्रों' का उल्लेख करने वाले 'प्रबंधचिंतामणि' के प्रमाण का वर्णन कर चुके हैं। गुहिल कुल का वर्णन करते हुए, 1285 ई० का अचलेश्वर (आबू पर्वत) अभिलेख[184] उसे शाखाओं एवं उपशाखाओं से परिपूर्ण बताता है और ये सभी अच्छे सदस्यों से युक्त थीं (सुपर्वा: पत्रविभूषितांशा:)। ऐसा प्रतीत होता है कि सभी बड़े कुलों की यही स्थिति थी। इसके अतिरिक्त, संभवत: राजनीतिक शक्ति के ग्रहण के माध्यम से राजपूत कुलों की संरचना की प्रक्रिया जारी रहने की पुष्टि कुछ अभिलेखों से होती है। 1156 ई० का एक अभिलेख[185] किसी 'महाराज' का उल्लेख करता है, जो बोड़ाना कुल का था। महावराह नामक एक अन्य कुल का उल्लेख 1011 ई० के अभिलेख[186] में मिलता है। जैसा निम्न सूची से स्पष्ट होता है, इस काल तक बड़े कुलों के उपविभाजनों की संख्या काफी बढ़ चुकी थी : दोड़ा, जो परमारों का उपविभाग था; गुहिलों के उपविभाग थे पिपाड़िया,[187] एवं मांगल्य; चाहमानों के उपविभाग देवड़ा, मोहिल एवं सोनि अथवा सोनिगारा थे;[188] दधिच, जो राठोरों का उपविभाग था। विवाह के जिन चंद दृष्टांतों के प्रमाण प्राप्य हैं, उनसे पता चलता है कि नए कुल और पूर्ववर्ती कुलों के उपविभाग कहलाए जाने वाले अंग धीरे धीरे राजपूतों के जाल में समाहित होते जा रहे थे। 1180 ई० का एक अभिलेख[189] गुहिल कुल के एक 'राणा' और बोड़ानी के विवाह का उल्लेख करता है। बोड़ानी का अर्थ है, बोड़ाना कुल की कन्या। एक अन्य अभिलेख, जो 1191 ई० का है,[190] ऐसे गुहिल का वर्णन करता है जिसने चाहमानों के मोहिल उपविभाग की एक कन्या से विवाह किया था।

इन उपकुलों का उदय कैसे हुआ? इस घटनाक्रम की व्याख्या नए क्षेत्रों में प्रवास के परिणामस्वरूप परिवारों के विभाजन की प्रक्रिया द्वारा की जा सकती है। किंतु प्रस्तुत लेख के अध्ययनकाल में ऐसे खंडीकरण की प्रक्रिया का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है जिसके परिणामस्वरूप उपकुलों का निर्माण हुआ हो। उदाहरणार्थ, शाकंभरी के चाहमानों का विभाजन होकर नाडौल के चाहमान कुल का जन्म हुआ और उसी की एक शाखा जालौर में स्थापित हुई।[191] ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रक्रिया से किसी उपकुल का उदय नहीं हुआ। परमारों के शाही कुल में भी ऐसी घटनाएं हुईं जिनके परिणामस्वरूप वागड़ा एवं आबू पर्वत क्षेत्र में नए कुलों का आविर्भाव हुआ, फिर भी वे परमार ही रहे।[192] इस संदर्भ में पूर्व मध्ययुग की उस जाति संरचना की प्रक्रिया की ओर संकेत करना उपयोगी हो सकता है जिसमें 'स्थानीयता' का

एक बड़ा तत्व सम्मिलित था।[193] राजस्थान में 'स्थानीयता' की क्रियाशीलता श्रीमाल अथवा भिल्लमाल ब्राह्मणों के उदय[194] में दृष्टिगोचर होती है और दहिय ब्राह्मणों एवं दहिय राजपूतों जैसे समूहों के विश्लेषण में भी उपरोक्त प्रक्रिया का प्रयोग किया जा सकता है। एक ही स्थान पर उदित होने के कारण इन अवरोक्त समूहों में एक दूसरे से अत्यंत घनिष्ठ 'साम्यताएं' थीं।[195] दूसरे, जैसाकि पहले ही कह चुके हैं, राजपूतीकरण सामाजिक गतिशीलता की एक ऐसी प्रक्रिया थी जिसने स्वयं को एक ढांचे के रूप में निरूपित करते हुए मेदों एवं हूणों जैसे असंबद्ध समूहों को भी अपनी ओर आकर्षित किया। इन दृष्टिकोणों से ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न उपकुलों की संरचना अनिवार्यत: कुलों के प्रत्यक्ष विभाजन का नहीं, वरन स्थानीय तत्वों के किसी पूर्व प्रतिष्ठित कुलों के संपर्क में आने पर उन तत्वों को आत्मसात करने की प्रक्रिया का परिणाम थी। पिपाड़िया गुहिलों एवं सोनिगारा चाहमानों द्वारा पूर्व मध्ययुग में राजपूतों के उपकुलों की संरचना में 'स्थानीयता' के इस तत्व का इशारा मिलता है। पिपाड़िया की व्युत्पत्ति पिप्पलपाद और सोनिगारा को सुवर्णगिरि (जालौर) नामक स्थानों से हुई थी। मान्यताप्राप्त कुल की प्रस्थिति तक पहुंचने का एक माध्यम वैवाहिक संबंधों का था। एक ओर गुहिलों तथा दूसरी ओर बोड़ानों एवं मोहिलों (चाहमानों का उपविभाग) के बीच स्थापित ऐसे संबंधों से इसका संकेत मिलता है।

जो कुछ भी ऊपर कहा गया है, उसके आधार पर निष्कर्ष के रूप में पूर्व मध्ययुग में राजपूतों के उदय की दो तिथिक्रमात्मक अवस्थाओं की परिकल्पना की जा सकती है। प्रथम चरण में तो वह मुख्य रूप से एक राजनीतिक प्रक्रिया थी जिसमें राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने के इच्छुक अनेक असंबद्ध वर्ग उन आदर्शों का पालन करते थे जो तत्कालीन राजनीतिक सिद्धांतों पर छाए हुए थे। चूंकि राजपूत ढांचे में प्रवेश मुख्य रूप से राजनीतिक शक्ति के माध्यम से ही होता था अत: पारंपरिक आदर्श अथवा वैधता की आवश्यकता बनी ही रही। इस दृष्टि से राजपूतों का आविर्भाव एक अखिल भारतीय घटनाक्रम अर्थात वंशों की संरचना के समान ही था, जिनमें से अनेक ने पौराणिक काल के क्षत्रिय वंशों से अत्यंत उत्साहपूर्वक अपने संबंधों का दावा करके वैधता प्राप्त करनी चाही थी। किंतु दूसरे चरण में, जिसका आरंभ हम लगभग 11वीं-12वीं शताब्दियों में रखते हैं, राजपूतों का उदय एक व्यापक सामाजिक घटनाक्रम भी बन गया। अत: 'राजपुत्रों' की संख्या में वृद्धि को केवल राजनीतिक शक्ति के ढांचे के संगठन का प्रतिबिंब नहीं मानना चाहिए, छोटे कुलों एवं उपकुलों के विकासशील घटनाक्रम की व्याख्या करने के लिए इसके निहितार्थों का विस्तार करना होगा। और यदि कोई अंतिम परिकल्पना प्रस्तुत करने का दुस्साहस करना चाहे तो यह कह सकता है कि स्थान एवं समय की दृष्टि से राजपूती व्यवस्था का भावी विकास केवल 'राजवंशीय' संबंधों का सामाजिक संबंधों के अधिक व्यापक क्षेत्र में विस्तार की प्रक्रिया में निहित था।

संदर्भ

1. राजपूतों की उत्पत्तिविषयक मतों का एक बृहत साहित्य है किंतु संबंधित संदर्भ ग्रंथसूचियां राजस्थान पर रचे गए हाल के ग्रंथों में मिल जाती हैं : डी० शर्मा, 'अर्ली चौहान डायनेस्टीज' ('ए स्टडी आफ चौहान पोलिटिकल हिस्टरी', 'चौहान पोलिटिकल इंस्टीट्यूशंस ऐंड लाइफ इन दि चौहान डोमिनियंस फ्राम स० 800 टु 1316 ए० डी०') (दिल्ली, 1959) इतस्तत:, डी० शर्मा (संपा०), 'राजस्थान थ्रू दि ऐजेज', खंड 1 (बीकानेर, 1966) इतस्तत:; एवं जे० एन० असोपा, 'ओरिजिन आफ दि राजपूत्स (दिल्ली, 1976) इतस्तत:.